21

संगीतशास्त्र के वैदिक उत्स तथा गान्धर्ववेद की परम्परा

श्रीकिशोर मिश्र

नीलोत्पलदलाभासः सामवेदो हयाननः।
अक्षमालान्वितो दक्षे वामे कम्बुधरः स्मृतः।।
श्रावण्यां श्रवणे जातः पूर्वं हयशिरा हरिः।
जगाद सामवेदं तु सर्वकल्मषनाशनम्।।
(निर्णयसिन्धु में कल्पतरुक्ति)

सामवेद तथा गान्धर्ववेद की शास्त्रीय परम्परा का संगीतशास्त्र के साथ अविछिन्न सम्बन्ध भारतीय संस्कृति में निरन्तर अनुस्यूत है। क्योंकि भारतीय मनीषा अपने पारम्परिक ज्ञान का स्रोत वेद को ही स्वीकार करती है। यह तथ्य वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे तथा भूतं भवद् भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति इत्यादि उक्तियों से मनु द्वारा (म. स्मृ.) प्रतिज्ञात है। भारतीय परम्परा में सामवेद का आधिदैविक स्वरूप हयवदनात्मक है। इनके वामहस्त में शोभित शंख प्राणवायु से उद्भूत ध्वनिमाधुर्य का तथा दाहिने हाथ में धृत माला हस्तादि - अंगोद्गत ध्वनिलहरी का उपलक्षक है। ये दो ही विधायें सम्पूर्ण संगीतशास्त्र को व्याप्त करती हैं। सामवेद के आद्य प्रवक्ता भगवान् हयग्रीव हैं। अश्व द्वारा सामवेद का प्रातिनिध्य गान्धर्ववेद में भी प्राप्त होता है। अतः अश्व का विशेष सम्बन्ध गान्धर्ववेद से है।

गान्धर्ववेद का आदित्यसम्प्रदाय

वस्तुतः अश्वस्वरूप आदित्य का आधिभौतिक संकेत है तथा सूर्य का इस परम्परा में विशिष्ट अभिप्राय है। सूर्य का अनेकधा अश्वस्वरूप उपदिष्ट है। मनु का वचन है -

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुस्सामलक्षणम्।। (म.स्मृ. 1/23)

इस उक्ति के द्वारा अग्नि से ऋग्वेद की, वायु से यजुर्वेद की तथा सूर्य से सामवेद की परम्परा का प्रवर्तन बतलाया गया है।

ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात् (ऐ.बा.25/7)

इस श्रुति में भी सूर्य से सामवेद का आविर्भाव उपदिष्ट है। शतपथ ब्राह्मण (11/5/8/3) में अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुवेदः सूर्यात् सामवेदः द्वारा स्पष्टतः सूर्य को सामवेद का प्रथम उपदेष्टा कहा गया है। सूर्य द्वारा साम के उपदेश का विशेष अभिप्राय भी है। सामगान की विविधताओं की अध्येता में वैविध्य से संक्रान्ति का भाव सूर्य के स्वरूप में संकेतित है। शतपथ ब्राह्मण का ही कथन है कि सूर्य की अगणित रश्मियां सामों की स्वरूप हैं - (आदित्यस्य) अर्चिः सामानि (श. 10/5/1/5)। इस सामसमूह का पिण्ड (अधिष्ठान) होने के कारण आदित्य की 'साम' संज्ञा भी मानी गयी है।

गान की सर्वोपकारकता

इस अभियान का एक अन्य वैशिष्ट्य यह भी है कि समस्त लोक-प्राणियों के लिए समानरूप से उपकारक, अनुग्राहक होने के कारण सूर्य को साम कहा गया है - तद् यदेष सर्वैर्लोकैः समस्तस्मादेष एव साम (जै.उप.1/12/5)।

समान रूप से अनुग्राहकता का यह साम-तत्त्व गान्धर्ववेद की परम्परा में अद्यावधि प्रत्यक्ष होता है। सांगीतिक विषयों के अभिज्ञ अथवा सर्वथा अपरिचित, सभी प्रकार के जनों के लिए गानादि के प्रयोग समान रूप से आकर्षक, उपकारक तथा रसानुभव के साधक होते हैं। काव्यादि से रसानुभूति तद्विज्ञ श्रोता अथवा पाठक को ही हो सकती है। किन्तु गान्धर्ववेद से सामान्यजन को भी समानरूप से रसानुभूति प्रत्यक्षसिद्ध है। अतः सूर्य से सामवेद के उपवेद गान्धर्ववेद की उद्भूति का भौतिक साक्ष्य सांगीतिक आनन्दातिरेक में प्राप्त होता है। सम्पूर्ण सामश्रुतियां, विभिन्न सामगान तथा सांगोपांग संगीतशास्त्र भगवान् आदित्य से ही प्रादुर्भूत हैं। जिस प्रकार भगवान् सूर्य का अनुग्रह सम्पूर्ण जगत् पर है उसी प्रकार उनके वेद और संगीत से समस्त विश्व अनुगृहीत है।

इस सन्दर्भ में तैत्तिरीय श्रुति ने एक अन्य तथ्य भी प्रतिपादित किया है। वेदात्मा भगवान् सूर्य अविरत श्रुतियों से समन्वित होकर संचरण करते हैं। उसमें भी सामवेद का समय विशेषतः सायंकाल से प्रारम्भ होता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (3/12/9/1) का वचन है - सामवेदेनास्तमये महीयते वैदैरशून्यैस्त्रिभिरेति सूर्यः।

इस वैदिक निर्देश का अनुगमन संगीतशास्त्र की परम्परा में भी किया जाता है। यह अनुभूत है कि सांगीतिक प्रयोग-विधान विशेषतः सायंकाल से प्रारम्भ होकर प्रातःकाल पर्यन्त सम्पन्न होता है।

जनसामान्य के प्रति अनितरसाधारण माहात्म्य के कारण सामवेद को सभी वेदों का रस अर्थात् सार कहा गया है। शतपथ तथा गोपथ श्रुतियों का वचन है - सर्वेषां वा एष वेदानां रसो यत्साम (श.ब्रा.12/8/3/23, गो.ब्रा.उ.5/7)। इसी तथ्य को श्रीमद्भगवद्गीता में 'वेदानां सामवेदोऽस्मि' (10/22) द्वारा प्रकाशित किया गया है। सामगान को प्राणभूत प्रतिपादित करते हुए श्रुति ने सामगान विद्या को मानव ही नहीं अपितु समस्त पाञ्चभौतिक जगत् में प्राणसंचारकर्ता निर्दिष्ट किया है। शतपथ ब्राह्मण (14/8/14/3) एवं जैमिनीय उपनिषद् में उक्ति है - प्राणो वै साम प्राणे हीमानि भूतानि सम्यञ्चि।

गानविद्या द्वारा ससंज्ञ, असञ्ज्ञ तथा अन्तस्सञ्ज्ञ भौतिक पदार्थों को प्राण-ऊर्जा से सम्पन्न करने के प्रयोग आधुनिक विज्ञान में भी प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। सामगान-प्रयोग के इस सर्वातिशायी गुण के कारण इसको श्रेष्ठता का पर्याय स्वीकार करते हुए इसके प्रयोक्ता को श्रेष्ठ माना गया है -

यः श्रेष्ठतामश्नुते स सामन् भवति (ऐ.ब्रा.12/12)
सामन् भवति श्रेष्ठतां गच्छति (गो.ब्रा.उ.3/20)

गान्धर्ववेद की अपौरुषेय-सिद्धान्तानुगामिता

भारतीय आचार्यों द्वारा वेदों की अपौरुषेयता के सम्बन्ध में पर्याप्त युक्ति-तर्क-प्रमाणों से संवलित सिद्धान्त प्रतिपादित है। सामवेद की अपौरुषेयता भी इन्हीं प्रमाणों से सिद्ध है। सामवेद के अन्तर्गत सामगानों का विधान अन्य वेदों से विशिष्ट है। अतः आचार्यों ने गानों की अपौरुषेयता के विषय में भी पृथक विचार किया है। ऋचा के समान प्रत्येक गान ऋषिदृष्ट है तथा इनका विनियोग भी निरूपित है। अतः ऋचाओं की भांति अविच्छिन्न परम्पराप्राप्त आनुपूर्वी से अध्ययन तथा अपूर्वजनकता के कारण गानों का भी अपौरुषेयत्व है।

यह अवधेय है कि यद्यपि गान ऋचाओं पर आश्रित होते हैं, तथापि उनमें अनेक वर्ण ऋचा से अधिक अथवा परिवर्तित रूप में उच्चरित होते हैं। इन अधिक वर्णों की संबा स्तोभ है- अधिकत्वे सति ऋग्विलक्षणवर्णत्वं स्तोभत्वम्।

स्तोभानुसंहार परिशिष्ट में इनके वर्णस्तोभ, पदस्तोभ, वाक्यस्तोभ आदि भेद बतलाये गये हैं। स्तोभ सार्थक भी होते हैं तथा अनेक स्तोभों के द्वारा सामान्य रूप से अर्थप्रतीति नहीं होती। परन्तु दोनों प्रकार के स्तोभ अपौरुषेय हैं यह निदानकार का सिद्धान्त है, क्योंकि इनमें मानवकृत परिवर्तन संभव नहीं है तथा ऐसे भी गान हैं जिनका मूल ऋक्पाठ (योन्यृक्) नहीं हैं। ये सभी ऋषिदृष्ट हैं उनका विनियोग, अदृष्टजनकत्व तथा स्वाध्यायाध्ययन अनादि परम्परा से प्रवर्तित है।

स्तोभपदों के प्रयोग से फलप्राप्ति ताण्ड्यमहाब्राह्मण में इस प्रकार वर्णित है- हीषीति वृष्टिकामाय निधनं कुर्यादूर्गित्यन्नाद्यकामाय ऊ इति स्वर्गकामाय आदि। यह फलप्राप्ति ऊहग्रन्थ के सौभरसाम के प्रसंग में (ता.ब्रा.8/8) कही गयी है। यह ज्ञातव्य है कि आरण्य, ऊह और ऊह्य गानों में अधिकाधिक स्तोभ पठित हैं। अतः उनसे अधिकाधिक फलावाप्ति हो सकती है। इस प्रकार ध्रुपद आदि में अधिकाधिक आलाप वैदिक दृष्टि से फलावाप्ति के अतिशय साधक हैं। निदानकार ने जैमिनीय न्यायमालाकार के संकोच के बाद भी ऊहग्रन्थों की अपौरुषेयता पर विशेष बल दिया है। इसी कारण आचार्यों ने हाई, हाऊ आदि स्तोभों से युक्त गान-भाग का भी अपौरुषेयत्व माना है।

वर्तमान शास्त्रीय गान की परम्परा के आलाप में यद्यपि सामान्यतः अर्थप्रतीति नहीं होती, परन्तु संगीतशास्त्र के आचार्य मानते हैं कि वह आलाप सार्थक होता है, फलद होता है। उनके वैपरीत्य से राग बिगड़ जाता है तथा स्वर में अशुद्धि हो जाती है। संगीत के आचार्यगण इसको महती त्रुटि मानते हैं। इन आलापों की गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणपूर्वक अभ्यास की परम्परा आज भी परिपालित की जाती है। शास्त्रीय नृत्य में भी झण्टुम आदि पद स्तोभ-परम्परा के अनुकरणभूत हैं। इस प्रकार सामवेदानुसारी गान्धर्व-वेद के सिद्धान्तों का भारतीय संगीतशास्त्र में आज भी समादर है। इन अपौरुषेय सिद्धान्तों के कारण गान्धर्ववेद का वेदत्व है। सामगान के इन मूलतत्वों के परिपालन के कारण संगीतशास्त्र की परम्परा सहस्रों वर्षों से सुरक्षित है तथा भविष्य में भी रहेगी। जबकि विश्व के अनेक भागों में प्रचलित तथा तदनुकूल आधुनिक भारतीय स्वर तथा लय आदि निरन्तर परिवर्तित तथा अस्मरणीय हो जाते हैं। कुछ गेय स्वर-लय दो दशक, पाँच दशक अथवा एक शताब्दी तक स्मृति में रहते हैं। इनकी दीर्घजीविता इसी पर आश्रित है कि उनमें पारम्परिक आर्ष सिद्धान्तों का कितना पालन किया गया है।

स्वर और वर्ण की अशुद्धि तथा प्रयोग का दोष फलसिद्धि में बाधक तो होता ही है, प्रयोक्ता के लिए हानिकारक भी है, यह वेदांग शिक्षा में उपदिष्ट है-

> मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
> स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।। (पा.शि. 52)

यह वैदिक अनुशासन भारतीय संगीतशास्त्र में पूर्णतः समादृत किया जाता है। स्वर के सम्यक् प्रयोग के लिए शास्त्रीयसंगीत अत्यन्त प्रतिबद्ध है। वस्तुतः यही गान का देदीप्यमान सर्वोत्कृष्ट आभरण है, वैदिक भाषा में यह गान का सुवर्ण है। सामविधान ब्राह्मण (1/1) का निर्देश है - तस्य हैतस्य साम्नो सुवर्ण वेद, भवति हास्य सुवर्ण, तस्य वै स्वर एव सुवर्णम्।

गान्धर्ववेद के आद्य उपदेष्टा

वाक्सौरभ्य की इस आनन्दमयी गान्धर्व परम्परा के आद्य उपदेष्टा कौन हैं, यह तथ्य भी वेदोक्त प्रमाणों से ही ज्ञात हो सकता है। सामवेद के आद्य उपदेष्टा आदित्य हैं यह पूर्वोद्धृत अनेक उल्लेखों से स्पष्ट है। सामवेद के उपवेद गान्धर्ववेद के भी आद्य आचार्य सूर्य हैं, यह संहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वः इस श्रुति (मा.स.18/37) से ज्ञात होता है। इसमें समस्त सामगानों के उपदेष्टा सूर्य को गन्धर्व अभिहित किया गया है। ये दिव्य गन्धर्व हैं - असौ वा आदित्यो दिव्यो गन्धर्वः (श.ब्रा. 6/3/1/19) तथा अश्व रूप से इन्होंने गन्धर्वों की परम्परा का प्रवर्तन किया यह भी श्रुति का संकेत है -- वाजी (भूत्वा) गन्धर्वान् (अवहत्) (श.ब्रा. 10/6/4/1)

वाजसनेय संहिता में वाणी के शोधक, पालक दिव्यगन्धर्व भगवान् आदित्य को वाक्सौरभ के समर्पण की स्तुति के

साथ शोधन की कामना की गयी है-

दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु (30/1)

यहां वाणी का अधिपति गान्धर्ववेद के आद्य उपदेष्टा आदित्य को कहा गया है। भगवान आदित्य से गान्धर्ववेद की इस परम्परा प्रसार हुआ जिसका निर्देश माध्यन्दिनीय संहिता (18/38-43) के अनुसार शतपथ ब्राह्मण (9/4/1/7-12) में अग्निर्हि गन्धर्वः, सूर्यो गन्धर्वः, चन्द्रमा गन्धर्वः, वातो गन्धर्वः, यज्ञो गन्धर्वः, मनो गन्धर्वः आदि द्वारा विवृत किया गया है। यहां यज्ञ के गन्धर्वत्व से प्रयोगदशा में संगीतशास्त्र का उपयोग तथा मन के गन्धर्वत्व से अध्यात्मदशा में भी संगीतशास्त्र का आनन्दातिरेक अभिव्यक्त होता है, क्योंकि वेद का चरमलक्ष्य पारमार्थिक अध्यात्मसाधना है।

पुराणोक्त गन्धर्वजातिविशेष इसी परम्परा को पूर्णतः आत्मसात् कर संरक्षित, पोषित तथा प्रचारित करने के कारण प्रसिद्ध है। परन्तु गान्धर्ववेद की परम्परा में समग्र देवगण भी समन्वित हैं, यह वाजसनेयी श्रुति में संकेतित है। माध्यन्दिन संहिता (8/21) के मन्त्र-देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित में देवताओं को गातुवित् माना गया है। शतपथ (4/4/4/13) में गातुविदो हि देवाः के अनुसार गातु यज्ञ है। शब्दार्थक गै धातु से गीयते नानाविधैर्विदिकशब्दैः प्रातिपाद्यत इति गातुर्यज्ञः इस प्रकार यज्ञपरक अर्थ किया जाता है। परन्तु इसका स्पष्ट अर्थ है कि गायनतत्त्वों के सुविज्ञ देवगण हैं। भारतीय देवशास्त्र में प्रत्येक देवता के पृथक पृथक वाद्य-सन्धारण की परम्परा का मूल यह वैदिक निर्देश है तथा वाद्य द्वारा देवोपासना से अनेक संगीतकारों को सितार, शहनाई आदि में अपूर्व सिद्धि का फल भी प्रत्यक्ष अनुभूत है। देवताओं ने भी अलभ्य पदार्थ का लाभ सामगान के द्वारा किया यही साम का सामत्व है, यह तैत्तिरीय श्रुति (2/2/8/7) में प्रतिपादित है- (देवाः) साम्ना समानयन् तत् साम्नः सामत्वम्। इसका कारण यह है कि वाणी स्वयं की इच्छा से देवताओं के पास से गन्धर्वों में गयी यह आख्यायिका (5/1) में वर्णित है।

गान्धर्ववेद की परम्परा

चरणव्यूह में सामवेद का उपवेद गान्धर्ववेद को बतलाया गया है। यद्यपि इसकी शब्दानुपूर्वी पौरुषेय है तथापि सिद्धान्त, ज्ञान एवं प्रयोग की अविच्छिन्न परम्परा से अपौरुषेय होने के कारण इसका वेदत्व है। 'गन्धर्व' पद का प्रयोग इस शास्त्र की अनितरसाधारणता को अभिव्यक्त करता है। गन्धर्वशब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है- गन्ध्यते प्राप्यते घ्राणेन्द्रियेण श्रोत्रेन्द्रियेण वा गन्धः सौरभम् स्वरो वा, गन्ध अर्दने (गमने) धातोः कर्मणि घञ्। गन्धं सौरभम् अर्वति गच्छतीति गन्धर्वः (कर्मण्यण् पा. 3/2/1 इत्यण् प्रत्यये शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यमिति वार्तिकेन पररूपे गन्ध+अर्व इति सन्धौ गन्धर्वः द्र.अ.को.3/3/132)

उपर्युक्त व्युत्पत्ति के अनुशीलन से यह संकेत प्राप्त होता है कि घ्राणेन्द्रिय से प्राप्त गन्ध तो सर्वजनसामान्य है। उसके प्रति गमन के उद्देश्य से गन्धर्व शब्द का वैशिष्ट्य नहीं है। मुख्यतः श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य गन्ध के प्रति गमन, प्राप्ति की विशेषता के कारण 'गन्धर्व' कहा गया है। नैरुक्त दृष्टि से गन्धर्व शब्द का निर्वचन 'गन्धरवाः एव गन्धर्वाः' इस प्रकार किया गया है। अर्थात् जिनकी वाणी से ही सौरभ, सुगन्ध प्रवाहित होती है वह गन्धर्व हैं। आज भी परिनिष्ठित संगीताचार्यों की वाणी की सुगन्ध से समग्र परिवेश प्रफुल्लित हो उठता है। आगम के आचार्य पृथ्वीधर ने भी वाणी के सौरभ्य को इन पंक्तियों में वर्णित किया है-

सौरभ्यं परमभ्युदेति वदनाम्भोजे गिरां विभ्रमैः (भुवनेश्वरीमहास्तोत्र 22)

पृथ्वीधर आचार्य के अनुसार यह वाक्सौरभ वाग्देवता की अनन्त कृपा से उद्भूत होता है। पौराणिक सन्दर्भों में गन्धर्वजाति संगीतशास्त्र में अपनी महनीयता के लिए सुप्रथित है।

जैमिनीय उपनिषद् में भी (3/25/4) गन्ध, आमोद-प्रमोद के लिए सृष्टि के अन्तर्गत गन्धर्वों में प्रतिष्ठान निर्धारित किया गया है-

गन्धो मे मोदो मे तन्मे युष्मासु (गन्धर्वेषु)

वैदिक सृष्टि-संविधान प्राणिमात्र के लिए श्रोत्रेन्द्रिय-ग्राह्य गन्ध, मोद-प्रमोद को जीवनधारण हेतु विशेषतः आवश्यक मानता है। सम्भवतः इसी कारण से माध्यन्दिनीय संहिता में विश्व की आमयनिवृत्ति के लिए विश्वावसु गन्धर्व का कर्तृत्व उपदिष्ट है- गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिददातु विश्वस्यारिष्ट्यै (मा.सं.2/3)

संगीत की सुगन्ध जो श्रोत्र से ग्रहण की जाती है वह जागतिक पदार्थों में प्राण का अद्भुत संचार करती है। वेद में यह जीवनी शक्ति की आधायिका कही गयी है- प्राणों वै गन्धर्वः (जै.उ.3/36/3)। यह भी ज्ञातव्य है कि गान्धर्ववेद संज्ञा किसी ग्रन्थविशेष के लिए निर्धारित नहीं है अपितु यह सम्पूर्ण शास्त्र का अभिधान है। संस्कृत-अध्ययन की परम्परा में प्रत्येक शास्त्र के विशिष्ट अभिधान के अन्तर्गत अनेक ग्रन्थ होते हैं। यथा - 'वेद' संज्ञा से संहिता, ब्राह्मण दोनों भागों का बोधन है। 'संहिता' के अन्तर्गत शाकल, माध्यन्दिनीय, काण्व, तैत्तिरीय, कौथुम, शौनक आदि सभी संहिता ग्रन्थ हैं तथा ब्राह्मणभाग में ऐतरेय, शतपथ, गोपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। इसी प्रकार आयुर्वेद, धनुर्वेद, नाम से कोई एक ग्रन्थ नहीं है। वेदाङ्ग शास्त्रों में भी ग्रन्थ-समूह एक शास्त्र के अन्तर्गत है। यथा व्याकरणशास्त्र में ऐन्द्र, चान्द्र, काशकृत्स्न, पाणिनीय, कातन्त्र, सारस्वत आदि व्याकरण सम्मिलित हैं। इसी प्रकार 'गान्धर्ववेद' संज्ञा भी संगीत, नाट्य आदि विधाओं के प्रतिपादक अनेक ग्रन्थों के समूह की अभिधायक है जिसका मूल वेद में संकेतित है तथा वेद से प्रारम्भ होकर परवर्ती अनेक ग्रन्थों में इसको उपबृंहित किया गया है।

संगीतशास्त्र में श्रुतिपरम्परागत शिक्षण

गायन एवं वाद्य आदि संगीतशास्त्रीय विद्याओं में श्रुतिपरम्परागत शिक्षा एवम् अभ्यास की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। विविध घरानों की अपनी विशेषता इस गुरु-सम्प्रदायानुसारी अध्ययन-प्रशिक्षण के कारण ही शताब्दियों से सुरक्षित रही है। सामान्य पाठ तथा पारम्परिक गायन - इन विधाओं में पारम्परिक सूक्ष्मता तथा कला की उत्कर्षानुभूति के कारण गान को प्रशस्त माना गया है। इसके वैदिक सिद्धान्त को जैमिनीय न्यायमाला (9/2/8) में -

ऋक्सामाभ्यां विकल्पेन स्तुतिः साम्नैव वाग्रिमः।
पुरेव मैवमृङ्निन्दा सामप्राशस्त्यदर्शनात्।।

इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है। इस प्राशस्त्य का कारण यह है कि साम की गान-परम्परा में अनर्ह का प्रवेश नहीं हो सकता। इस विषय में वैदिक आख्यायिका है कि -

यद् ऋचा स्तुवते तदसुरा अन्ववायन्,
यत् साम्ना स्तुवते तदसुरा नान्ववायन्,
य एवं विद्वान् साम्ना स्तुवीत।। (द्र.सा.भा.भू.)

इसका अर्थ है कि यदि ऋचा से स्तुति करते हैं तो असुर उसका अनुकरण कर लेते हैं परन्तु यदि सामगान से स्तुति करते हैं तो असुर अनुकरण नहीं कर सकते। असुर का अभिप्राय है अनधिकारी। ऋचा के पाठ की, यजुर्गद्य के पाठ की नकल की जा सकती है। अतः ऋक्, यजुष अथवा अथर्व के द्वारा स्तुति करना सामान्य है। परन्तु गान की नकल अनधिकारी नहीं कर सकता। उसको गुरुपरम्परा में जाकर सीखना होगा तथा तदनुसार अभ्यास करना होगा। यही गान की प्रकृष्टता है। संगीतशास्त्र की निपुणता भी गुरु से दीक्षापूर्वक तदुपदिष्ट अभ्यास से सिद्ध होती है। सामान्य श्रम से उनकी नकल नहीं की

जा सकती। अतः गान्धर्ववेद में अनधिकारी, अनर्ह का प्रवेश नहीं है। यह तथ्य जानकर गानस्तवन से अलौकिक फलद यागप्रयोग की पूर्णता और लौकिक फलावाप्ति अवश्यम्भावी है। इस परम्पराभ्यास के अभाव में फलसिद्धि सम्भव नहीं है। यह महर्षि जैमिनि के सिद्धान्त से अद्यावधि प्रत्यक्ष है तथा यही गान विद्या की प्रकृष्टता है।

संगीतशास्त्र में वैदिक स्वरों की व्याप्ति

भारतीय परम्परा में सस्वर उच्चारण द्वारा ही वेदत्व माना जाता है। गान्धर्ववेद के अन्तर्गत उपदिष्ट होने के कारण संगीतिक परम्परा में भी वेदानुमोदित स्वर स्वतः प्राप्त होते हैं। एतदर्थ याज्ञवल्क्यशिक्षा (1/6) में नियम है -

गान्धर्ववेदे ये प्रोक्ताः सप्त षड्जादयः स्वरा।
त एव वेदे विज्ञेयास्त्रय उच्चादयः स्वराः।।

वेद के उदात्त तथा स्वरित स्वर ही गान्धर्ववेद में षड्ज आदि सात स्वरों में व्याप्त हैं। त्रैस्वर्य का सात स्वरों में वितान याज्ञवल्क्य शिक्षा (1/7) में इस प्रकार निर्दिष्ट है -

उच्चौ निषादगान्धारौ नीचावृषभधैवतौ।
स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः।।

इन सात स्वरों की नियमित प्रयोगविधि आज भी भारतीय संगीतशास्त्र की आधारभूमि है। यह जिज्ञासा भी स्वाभाविक है कि शास्त्रीय संगीत की परम्परा सात स्वरों को ही क्यों आधार मानती हैं। इसका मूल स्रोत भी उपदिष्ट है क्योंकि ऐतरेय ब्राह्मण (7/7) में वर्णित है कि वाणी ने सात प्रकार से ही स्वयं को प्रकाशित किया है -

सप्तधा वै वागवदत् तावद्वै वागवदत्।

आचार्य सायण ने इसकी व्याख्या की है - लोके गानरूपा या वागस्ति सा सप्तधावदत्, षड्जऋषभादिस्वरोपेता प्रवृत्ता तावदेव वैदिकवागप्यवदत्। अर्थात् मुख्यतः इतने ही स्वरों में वाणी को अभिव्यक्त करना चाहिए यह श्रुति का निर्देश है। इसका पालन शास्त्रीय संगीत में नियमतः किया गया है। स्वरों के ग्राम एवं मूर्च्छना आदि का निर्देश भी वैदिक शिक्षांग में प्राप्त होता है यथा -

सप्त स्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्च्छनास्त्वेकविंशतिः

इत्यादि। इनमें षड्जग्राम तथा मध्यमग्राम का प्रयोग प्रचलित है। गान्धर्वग्राम दुर्लभ है। मन्द्र, मध्य तथा तार की अवधारणा भी वेद से प्राप्त होती है। वेदोपाङ्ग ऋक्प्रातिशाख्य(13/42) में - त्रीणि मन्द्रं मध्यममुत्तरं च स्थानान्याहुः सप्त यमानि वाचः द्वारा सात स्वरों के त्रिवृत् स्थानों का उपदेश है, जो भारतीय संगीत में अद्यावधि प्रचलित है। इनका यागगत प्रयोग वेदत्रिरात्र में निर्दिष्ट है- मन्द्रे प्रातः स्तुवीरन्, उत्तरोत्तर्युत्तरयोः मध्ययेन वोभयोः आदि। इस प्रकार स्वर, ग्राम, गायन का विधान आदि समग्र सिद्धन्तों का उत्स वैदिक सामगान में उपलब्ध है। इन्हीं के अनुसार गान्धर्ववेद की परम्परा प्रतिष्ठापित हुई जो स्वर, ताल तथा लय पर आधारित है। आचार्य भरत की उक्ति है - गान्धर्वमिति विज्ञेयं स्वरताललयश्रयम्।

राग का वैशिष्ट्य

गान्धर्ववेद का स्वरताललयाश्रित स्वरूप गान में राग के द्वारा प्रकाशित होता है। संगीतरत्नाकर में राग का स्वरूप इस प्रकार है -

योऽसौ ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूषितः।
रंजको जनचित्तानां स रागः कथितो बुधैः।।

स्वरवर्ण से अलंकृत ध्वनि सामान्य रूप से राग नहीं होता, अपितु उसमें चित्तरञ्जनता अर्थात् अनुराग से योग होता है तब वर्ण-पद विशेष राग बन जाता है। वैदिक दृष्टि में सामान्य ऋक् अथवा यजुश्छन्द के पाठ में गान की रागात्मकता नहीं है। राग के सिद्धान्त की स्पष्टता के सन्दर्भ में वर्णों में रंजन पर विचार के लिए ऋक्प्रातिशाख्य में उपदिष्ट रक्त संज्ञा का स्वरूपज्ञान आवश्यक है। ऋक्प्रातिशाख्य की पारिभाषिक पदावली में अनुनासिक को 'रक्त' संज्ञा दी गयी है। इसका तात्पर्य है कि नासिका की ध्वनि से वर्ण को रंजित अर्थात् रंग लेने या ढक लेने के कारण यह रक्त है। वर्ण अपने निर्धारित उच्चारणस्थान से उच्चरित होते हुए भी नासिका से पूर्णतः अनुरंजित हो जाता है। वर्णों का यह अनुरंजन ही राग है। गायन तथा आलाप आदि में वर्ण अपने मूल स्थान-प्रयत्न से उच्चरित होते हुए भी जब एक विशेष स्वरध्वनि की लय से अनुरञ्जित होकर प्रकाशित होता है तब वह रागात्मक हो जाता है। यह राग ही लोकचित्त का रंजक हो सकता है।

इसी तथ्य को आचार्य शौनक ने यम वर्णों के द्वारा उपदिष्ट किया है- सप्त स्वरा ये यमास्ते (13/44)। ऋक्प्रातिशाख्य के भाष्यकार ने यमवर्णों के निरूपण में स्पष्ट कहा है-

ये ते सप्त स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमपंचमधैवतनिषादाः स्वरा इति गान्धर्ववेदे समाम्नाताः तथा सामसु ..... ते यमा नाम वेदितव्याः।

जो वर्ण अवस्थाविशेष अर्थात् रंजना के साथ सात स्वरों में गान्धर्ववेद में प्रयुक्त होते हैं वे यम कहलाते हैं। इसका तात्पर्य है कि गायन में यदि अरंजित अथवा सीधी-सादी ध्वनि का उच्चारण हो तो वह श्रोता के राग का कारण नहीं बनता। परन्तु कोई वर्ण जब अनुनासिक या अन्य ध्वनि विशेष से रंग दिया जाता है अथवा वर्ण को रंजना प्राप्त कर लेती है तो वह अनुरक्त होकर सौन्दर्य का साधक हो जाता है। इसको यम इसलिए कहा गया है कि वह वर्ण ध्वनिरंजकत्व से पूर्णतः आवृत (ढका हुआ) है, उसका व्याप्य हो जाता है। स्वयं में पूर्ण रञ्जित न होने पर श्रोता के चित्त का अनुरंजन असंभव है। वैदिक यम के उदाहरणों कुं खुं इत्यादि द्वारा समस्त स्पर्श वर्णों का बोधन किया गया है तथा यम को मूलवर्ण के सदृश ध्वनि कहा गया है - यमः प्रकृत्यैव सदृक् (ऋ.प्रा.6/32)। ये सम्पूर्ण वर्ण रञ्जना को प्राप्त कर राग के रूप में प्रकाशित होते हैं। यही राग का वैदिक सिद्धान्त है जो प्रातिशाख्य उपांगशास्त्र में प्रतिपादित है।

राग का सम्पूर्ण सौन्दर्य वाणी पर आधारित है अतः वाणी का माधुर्य गान्धर्ववेद की प्रतिष्ठा का मूल है। जैमिनीय उपनिषद् में 'वाग् वाव साम्नः प्रतिष्ठा' (1/39/3) द्वारा यह तथ्य प्रतिपादित किया गया है। साम द्वारा आनन्दमय जगत् की सृष्टि के लिए पुंस्तत्व तथा स्त्रीतत्त्व के रूप में प्राण तथा वाक् का अलौकिक योग होता है। जैमिनीय श्रुति है- प्राणो वा वामो वाक् सा तत्साम (4/23/3)। इस आनन्दमय सृष्टि के लिए मन, कर्ण और नेत्र इन तीन अवयवों की एकनिष्ठा भी आवश्यक है। जैमिनीय श्रुति कहती है-

मनो वाव साम्नः श्रीः, चक्षुर्वाव साम्नोऽपचितिः, श्रोत्रं वाव साम्नः श्रुतिः (1/39/2,5,6)

गान में शोभा, समृद्धि और यथार्थता (सत्य) क्रमशः मन, नयन तथा श्रोत्र इन तीन करणों के समाहार से प्राप्त होती है। भारतीय संगीत की परम्परा में इन सबकी सन्नद्धता दृष्टिगोचर होती है तथा ये अंग संयुक्त तथा समाहित रहते हैं, यह प्रत्यक्ष अनुभूति है।

गान्धर्ववेद का अलौकिकोपायबोधकत्व

शास्त्रों में अलौकिक उपाय का बोधन कराने के कारण वेदत्व माना गया है। वेद का लक्षण है - इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः। इसके अनुसार अभीष्ट हित की प्राप्ति तथा अनिष्ट के निवारण के लिए अलौकिक उपाय के रूप में गान्धर्ववेद को वेद विशेषण दिया गया है। इसका लौकिक स्वरूप अधिक व्यापक

होने के कारण यह उपवेद है। यह अवधेय है कि आजकल गान्धर्ववेदीय संगीतशास्त्र का लौकिक उपयोग ही प्रचलित है तथा इसका लोकानुरूप प्रयोग किया जा रहा है। परन्तु वस्तुतः यह अलौकिक पुरुषार्थ का साधक है। याज्ञवल्क्य का वचन है-

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं च गच्छति ।। (या.स्मृ.3/125)

यह निर्देश किसी संगीतशास्त्र के ग्रन्थ का नहीं है, अपितु धर्म में प्रमाणभूत स्मृतिशास्त्र के यतिधर्मप्रकरण का है। इसमें क्रमशः वादन, गायन तथा तालाश्रित नृत्य तीनों अंगो, विधाओं का संकेत वीणा आदि उपलक्षणों से किया गया है तथा इनकी तत्त्वज्ञता को चरम पुरुषार्थ का साधक माना गया है। इस मार्ग की यह विशेषता है कि इसमें ज्ञानमार्ग की सर्वनिरपेक्षता, भक्तिमार्ग की अन्यनिरपेक्षता तथा योगमार्ग की आत्मनिष्ठता का गम्भीर प्रयास नहीं करना पड़ता, अपितु यह अल्पप्रयाससाध्य रुचिकर मार्ग है। परन्तु उसका प्रयोजन चरम लक्ष्य की प्राप्ति होना चाहिए। मिताक्षरा में -

तत्स्वरूपज्ञश्च तदनुविद्धब्रह्मोपासनतया तालादिभङ्गभयात् चित्तवृत्तेरैकाग्रतायाः सुकरत्वादल्पायासेनैव मुक्तिपथं नियच्छति प्राप्नोति

इन पंक्तियों में तथा वीरमित्रोदयकार ने -

मोक्षमार्गं चित्तसमाधियोगरूपं नियच्छति प्राप्नोति

इस प्रकार संगीत से चरमपुरुषार्थ की प्राप्ति का सोपान प्रतिपादित किया है। यह प्रसिद्धि है कि तानसेन ने जब तक लौकिक आनन्द-प्रदान के लिए संगीत-साधना की तब तक उसे पूर्ण सिद्धि नहीं प्राप्त हुई और स्वामी हरिदास जी महाराज आदि ने इसी तत्त्वज्ञता से चरम लक्ष्य को प्राप्त किया। अतः यह तत्त्वाराधन तथा परतत्त्वाधिगम के लिए आनन्दमय मार्ग है।

राग की आध्यात्मिक अवस्थिति

महर्षि याज्ञवल्क्य के श्लोक में वीणा के निर्देश में भी रहस्यभिप्राय है। तैत्तिरीय आरण्यक (3/2/5) में दैवी वीणा तथा मानुषी वीणा का स्वरूप बतलाया गया है। आगम शास्त्र में यह वीणा षट्चक्राराधन के रूप में मेरुदण्ड पर आधारित है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि तथा आज्ञाचक्र - यह स्थान शरीरवीणा में छः स्वरों के अधिष्ठान हैं एवम् अधःसहस्रार तथा ऊर्ध्वसहस्रार प्रथम षड्ज एवं अन्तिम, इन दो 'स' को प्रकाशित करते हैं। शरीर-पिण्डगत यह योगवीणा ब्रह्माण्डवीणा की अनुकृति है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' इस मान्यता के अनुसार ब्रह्माण्ड भी वीणा-स्वरूप है जिससे सृष्टि का राग संचालित होता है। परवीणा की अनुकृति के रूप में गायन में वाक्यवीणा तथा वादन में तन्त्रीवीणा की साधना उसी प्रकार होती है जिस प्रकार प्राकृत सृष्टियाग की अनुकृति में दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य आदि वैकृत यागों का अनुष्ठान सम्पन्न होता है। वैकृतयागों के अन्तर्गत सामगान में यही स्वर करवीणा से प्रदर्शित होते हैं। इसी प्रकार वैदिक यागविधानों में उपयोक्तव्य दुन्दुभि आदि वाद्ययन्त्र भी उपलक्षण हैं तथा विविध तत्त्वों के निर्देशक हैं। नाद की साधना का यह सम्पूर्ण विधान परतत्त्व की प्राप्ति का साधन है क्योंकि वाजसनेय श्रुति में वाक् की उभयतोमुखता इस प्रकार उपदिष्ट है-

चिदसि मनोसि धीरसि दक्षिणासि क्षत्रियासि
अदितिरस्युभयतः शीर्ष्णी (मा.सं. 4/19)

इस यजुर्मन्त्र में वाक् को उभयतःशीर्ष्णी अर्थात् लोकोपकारिणी तथा अलौकिकतत्त्वसाधिका कहा गया है। अतः संगीतमयी वाक् दृष्टादृष्टोभयप्रापिणी सर्वतोमुखी है।

नादब्रह्म की अनुभूति तथा मोक्षानन्दाधिगम

महर्षि याज्ञवल्क्य द्वारा वाद्यलयताल की साधना से प्रकाशित मोक्षमार्ग का गन्तव्य नादब्रह्म की अनुभूति है। इन तीनों अंशों का आधार नाद ही है। संगीतरत्नाकर में स्पष्ट किया गया है कि -

गीतं नादात्मकं वाद्यं नादव्यक्त्या प्रशस्यते।
तद्द्वयानुगतं नृत्यं नादाधीनमतस्त्रयम्।।

अतः यह समस्त साधना नाद में पर्यवसित होती है। नाद की एकात्म साधना का परिपाक आनन्दमय ब्रह्म का अनुभव है। नादब्रह्म का अनुभव भी योगसिद्धि का स्वरूप है यह संगीतशास्त्रकार नहीं, अपितु श्रुति कहती है। वाराहोपनिषद् (2/82/83) का वचन है -

पुंखानुपुंखविषयेक्षणतत्परोऽपि। ब्रह्मावलोकनधियं न जहाति योगी।
संगीततालललयवाद्यवशं गतापि। मौलिस्थकुम्भपरिरक्षणधीर्नटीव।।
सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा। नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता।।

नाद के अनुसन्धान का मार्ग आहत नाद की प्रक्रिया से प्रारम्भ कर अनाहत नाद पर्यन्त चरम परिणति को प्राप्त करता है। यही नादयोग का क्रम है। उत्कृष्ट संगीतशास्त्री जो गान्धर्ववेद की आराधना में एकनिष्ठ तत्पर हैं वे नादयोग पूर्णयोगी के रूप में उसी परतत्त्व नादमय ब्रह्म का अनुभव करते हैं जिसका अन्य योगी योगमार्ग से, भक्त भक्तिमार्ग से, यायजूक यागमार्ग करते हैं।

इस साधना से पूर्णत्व की अनुभूति होने पर सर्वमयता की अध्यात्म चेतना प्राप्त हो जाती है, यह भी वेदवाक्य से प्रमाणित है। एतदर्थ शतपथ श्रुति है- यः सर्वः कृत्स्नो मन्यते गायति वैव गीते वा रमते (श.ब्रा. 6/1/1/15)। इस श्रुति ने नादोपासन की विशेषता प्रतिपादित की है कि यह प्रयोक्ता तथा उपयोक्ता (श्रोता) दोनों में पूर्णत्व का सन्धारण करता है। अन्य योग, ज्ञान, कर्म आदि मार्ग द्वारा केवल प्रयोक्ता में ही पूर्णता की अवधारणा होती है। इस प्रकार नादब्रह्म के साक्षात्कार की आत्माराम अवस्था हो जाती है। भारतीय दार्शनिक सिद्धान्त में सर्वत्व, पूर्णत्व की प्राप्ति ब्रह्म-साक्षात्कार का फल है तथा अखण्ड आनन्दमय ब्रह्मरूपता होने के कारण याज्ञवल्क्यस्मृति में गान्धर्ववेद को श्रुत्यनुमोदित मोक्षमार्ग के चरम लक्ष्य का प्रापक माना गया है।